

शिक्षा का अधिकार अधिनियम उम्मीद और आशंकाओं के बीच

प्रारंभिक, 8वीं कक्षा तक की शिक्षा अब हर बच्चे का मूल अधिकार बन गया है। कानूनी तौर पर 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को शिक्षा देने वाला यह अधिनियम 1 अप्रैल, 2010 से लागू हो जाएगा। इसका प्रारूप बनाने और संसद में रखे जाने के समय जो बहस शुरू हुई थी वह अभी खत्म नहीं हुई है। एक तरफ जहां इसे एक ऐतिहासिक कानून बताया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ इसे भारत की गरीब जनता के साथ एक छलावा और शिक्षा के बाजारीकरण की तरफ एक कदम बताया जा रहा है। यह बहस शिक्षा विमर्श के इस अंक का विषय है, इस बहस पर बहुत संक्षेप में कुछ टिप्पणियां यहां की जा रही हैं। इस संपादकीय का विषय मोटे तौर पर शिक्षा के अधिकार को लागू करने के लिए हमें विद्यालय के स्वरूप में क्या परिवर्तन करने होंगे, यही रहेगा। परन्तु मूल मुद्दे पर आने से पहले कुछ एक-दो बातों की तरफ ध्यान दिलाने की जरूरत है।

शिक्षा के अधिकार अधिनियम के खिलाफ एक बात यह कही जा रही है कि यह कानून शिक्षा के निजीकरण को बढ़ावा देगा। लेकिन क्या इस अधिनियम को ध्यान से पढ़ने पर इसमें शिक्षा के निजीकरण का ऐलान लगता है ? यह ठीक है कि निजी विद्यालयों के अस्तित्व को इसमें स्वीकार किया गया है। यह भी ठीक है कि निजी विद्यालयों में इस अधिनियम की पालना के लिए जिन 25 प्रतिशत बच्चों को प्रवेश दिया जाएगा उनका शुल्क भी सरकारी खजाने से देने की बात कही गई है। पर देखने की बात यह है कि निजी विद्यालय तो देश में पहले से ही मौजूद हैं। उनमें वे विद्यालय भी हैं जो वास्तव में शिक्षा के प्रसार के लिए पूरी ईमानदारी से जनहित में खोले गए हैं और मुनाफा कमाने का कोई इरादा इनके खोलने वालों के मन में नहीं रहा। पूरे देश में शायद हजारों विद्यालय इस प्रकार के होंगे। राजस्थान के शेखावटी इलाके का शिक्षा में आगे होने में इन विद्यालयों का बहुत बड़ा हाथ है। दूसरी तरफ निजी विद्यालयों में वे विद्यालय भी हैं जो केवल मुनाफा कमाने की इच्छा से ही खोले गए हैं, जहां जनहित या शिक्षा के फैलाव का कोई भी जज्बा आसपास भी नहीं है। ये ठीक है कि ये विद्यालय खुले तौर पर नहीं कह सकते कि इनका इरादा केवल मुनाफा कमाने का है, क्योंकि ये सभी अलाभकारी समितियों या ट्रस्टों के नाम पर चलाए जा रहे हैं। पर अंधी सरकार और उसके अंधे बाबुओं को छोड़कर बाकी सभी जानते हैं कि यहां मुनाफा ही एकमात्र प्रेरणा है। क्या यह अधिनियम इस दूसरी तरह के मुनाफाखोर विद्यालयों को बढ़ावा देता है ? शायद नहीं। क्योंकि यह मुनाफे की खुली छूट देने की बात नहीं करता और न ही जरूरी तौर पर भर्ती किए जाने वाले 25 प्रतिशत बच्चों का शुल्क इतना देने की बात करता है कि उससे बड़ा मुनाफा कमाया जा सके। हां, यह निजी विद्यालयों की मनाही नहीं करता और न ही पड़ोस के स्कूल में दाखिले का खुला अधिकार देता है। अतः शिक्षा के बाजारीकरण की बात तो ठीक सिद्ध नहीं हो पाती।

पर क्या यह विधेयक भारत के सभी बच्चों को समान गुणवत्ता की शिक्षा देने की प्रतिबद्धता जाहिर करता है ? बिल्कुल नहीं। यह सबके लिए एक न्यूनतम मानदण्डों वाले स्कूल की उपलब्धता की बात जरूर करता है, लेकिन यह समान गुणवत्ता की शिक्षा के प्रति कोई प्रतिबद्धता नहीं दिखाता। सरकार ने पिछले 60 वर्षों में विभेदकारी शिक्षा की जो भूल-भुलैया खड़ी की है उससे देश के बच्चों को मुक्ति दिलाने का इस अधिनियम का कोई इरादा नहीं लगता है। अब भी पैसे वाले को उसकी समझ से अच्छी शिक्षा मिलेगी और गरीब को एक न्यूनतम मानदण्डों वाला स्कूल। उस स्कूल में शिक्षा कैसी होगी, इसकी कोई गारंटी यह अधिनियम नहीं दे रहा है। गारंटी के तौर पर जो कुछ दिया जा रहा है उसमें बाल केन्द्रित शिक्षा की अधिकचरी समझ के आधार पर कुछ नारे भर हैं और उनसे कुछ होने वाला नहीं है।

तो क्या हम इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं कि यह अधिनियम असमानता को दूर करने में और हाशिए पर जी रहे समुदायों

के बच्चों तक अच्छी शिक्षा पहुंचाने में किसी काम का नहीं है ? मुझे ऐसा नहीं लगता। चाहे पूरी तरह समान शिक्षा की बात न कर पाता हो। यह अधिनियम इसकी सारी कमियों के बावजूद भी हर बच्चे के लिए शिक्षा का भार राज्य पर डालता है। साथ ही जो बात किसी भी लोकतांत्रिक राज्य में सब जानते और मानते हैं कि लोकतंत्र के समुचित संचालन के लिए शिक्षा जरूरी है और वह पूरी तरह से राज्य की जिम्मेवारी है- इसे संवैधानिक रूप से स्वीकार किया गया है। ठीक है कि यह स्वीकारोक्ति राज्य की तरफ से आधी-अधूरी और बेमन से है एवं यह विभिन्न तरह के राजनैतिक दबावों के कारण है। फिर भी यह स्वीकारोक्ति राज्य के जिम्मेदार लोगों को न्यायालय में ले जाने के लिए कुछ हद तक मददगार होगी। अधिनियम इस जिम्मेदारी को पूरी तरह से स्वीकार करने की तरफ एक कदम है और इस दिशा में और आगे बढ़ने की गुंजाइश बनाता है। अतः यह अधिनियम उम्मीद भी जगाता है।

इन कुछ आरंभिक विचारों के बाद हम इस अधिनियम के विद्यालय के स्वरूप पर पढ़ने वाले प्रभाव की बात पर आते हैं। विधेयक के शिक्षाक्रम और शिक्षण-विधियों वाले भाग को पढ़ने से लगता है कि विद्यालय के संचालन, गठन, कक्षा-प्रक्रियाओं आदि के बारे में बहुत सतही तौर पर विचार किया गया है। यदि शिक्षण विधियों को पूरी तरह से शैक्षिक अधिकार पूर्ण अभिकरणों (Academic authority) पर छोड़ दिया जाता तो कोई बात नहीं थी। पर जो कुछ कहा गया है वह भ्रामक और अधकचरा है। बानगी के लिए, इसमें से दो-तीन चीजें देखते हैं। शिक्षाक्रम और प्राथमिक शिक्षा पूरी करने संबंधी अध्याय पांच में कुछ बातें तो शिक्षाक्रम को संवैधानिक मूल्यों के अनुसार होने संबंधी हैं, जो जरूरी हैं और उन्हें अधिनियम में शामिल होना ही चाहिए। कुछ बच्चे के चहुंमुखी विकास जैसे थोथे शब्द हैं, जिनका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता। पर मैं यहां केवल दो चीजों की बात करूंगा, हालांकि इन सभी मुद्दों पर और विश्लेषण की जरूरत है।

शिक्षण विधियों पर पाबंदी

अधिनियम में कहा गया है कि शैक्षिक अभिकरण जब शिक्षाक्रम और मूल्यांकन के लिए निर्देश दें तो यह ध्यान रखें कि विद्यालय में “सीखना गतिविधियों के माध्यम से, खोजी विधि से, अन्वेषण से हो; साथ ही वह बालक की रुचि और बालकेन्द्रित विधियों से हो”। आज सभी कहते हैं कि सीखने-सिखाने के तरीके बालकेन्द्रित एवं गतिविधि आधारित होने चाहिए, उनमें गतिविधियां हों और बच्चों को खोजबीन करके अपने नतीजे निकालने का मौका मिले। इसमें कोई भी बुरी या गलत बात नहीं है। पर क्या किसी शिक्षण-धारा विशेष को कानूनी तौर पर एकाधिकार देने की जरूरत है ? सीखने-सिखाने की कई विधियां हो सकती हैं, शिक्षकों और शिक्षाविदों में उन पर मतभेद हो सकते हैं, इन पर बहस हो सकती है, शोध हो सकते हैं और एक से अधिक तरीके उपयुक्त माने जा सकते हैं। ऐसी विधियां संभव हैं जो सिखाने में कारगर हों, बच्चे के प्रति संवेदनशील हों, उनकी समझ और क्षमताओं को इजाजा करती हों और फिर भी जिन्हें बालकेन्द्रित न कहा जा सके। हम यह भूल जाते हैं कि बाल-केन्द्रीयता की कोई साफ परिभाषा मौजूद नहीं है। यह चिंतन धारा बच्चे को दैवीय पवित्रता का रूप मानती रही है। इसमें स्व-स्फूर्त विकास से संपूर्ण शिक्षा हो जाने की कल्पना की गई है और शिक्षा के उद्देश्यों को अपरिभाषित रखने का रिवाज रहा है। ऐसी स्थिति में गतिविधि आधारित और बाल-केन्द्रीयता को कानून का रूप देने का क्या आशय हो सकता है ? क्या सभी कुछ गतिविधि के माध्यम से सिखाया जा सकता है ? क्या जो गतिविधि के माध्यम से न सिखाया जा सके और जिसमें बच्चों की रुचि न हो, उसे शिक्षाक्रम से बाहर कर देना चाहिए ? कैसे तय करेंगे कि कौन-सी विधि बालकेन्द्रित है और कौनसी नहीं ? यदि यह कानून है तो इसकी कोई साफ परिभाषा भी चाहिए होगी ? वह परिभाषा कहां होगी ? यह शिक्षक और शोधकर्ताओं पर नाजायज अंकुश है या फिर अर्थहीन लपफाजी है। यह कोई कानून बनाने लायक बात नहीं है। यह भारतीय नारे-बाजी संचालित बाल केन्द्रीयता का सुन्दर नमूना भर है।

विद्यालय प्रवेश, परीक्षा और प्राथमिक शिक्षा पूरी करना

अब अधिनियम में अलग-अलग जगह दी गई कुछ चीजों को एक साथ देखिए। अधिनियम की धारा चार के अनुसार :

(1) जो बच्चे कभी विद्यालय गए ही नहीं या जिन्होंने अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी किए बिना ही विद्यालय छोड़ दिया था,

वे यदि छह साल से ज्यादा की उम्र में विद्यालय आते हैं तो उन्हें उनकी उम्र के मुताबिक कक्षा में प्रवेश दिया जाएगा। अर्थात् 12 वर्ष के बच्चे को छठी या सातवीं में प्रवेश मिलेगा। (2) ऐसे बच्चों को अपनी कक्षा के साथ चलने के लिए, तैयार करने के लिए निर्धारित मानदण्डों के अनुसार विशेष प्रशिक्षण लेने का हक होगा। (3) इन बच्चों को 14 वर्ष की उम्र के बाद भी प्रारंभिक शिक्षा पूरी न होने तक शिक्षा प्राप्त करने का हक होगा।

धारा 16 के अनुसार किसी भी बच्चे को शाला में प्रवेश दिए जाने के बाद न तो 'फेल' किया जा सकेगा और न ही शिक्षा पूरी होने तक शाला से निकाला जा सकेगा। धारा 30 (1) के अनुसार किसी भी बच्चे को प्रारंभिक शिक्षा पूरी करने तक कोई बोर्ड परीक्षा पास नहीं करनी होगी तथा धारा 30 (2) के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा पूरी करने वाले को निर्धारित रीति से प्रमाण पत्र दिया जाएगा।

इन सब प्रावधानों को एक साथ पढ़ने से साफ होता है कि अधिनियम के लागू होने के बाद कम से कम आरंभिक तीन वर्षों तक दूर-दराज के ग्रामीण इलाकों की कक्षाओं में विभाजित शालाएं बहुत ठीक से नहीं चल सकेंगी। एक तरफ उन सभी बच्चों को लाने की जिम्मेवारी होगी, दूसरी तरफ बच्चों को उम्र के अनुसार कक्षा में भर्ती करना होगा और उन्हें फेल कर नहीं सकते। हमारे यहां कक्षाओं में पढ़ाने के परंपरागत सामूहिक तरीके में अभी नए आने वाले एवं पीछे चलने वाले बच्चों पर अलग से ध्यान देने की कोई संभावनाएं नहीं हैं और न ही शिक्षकों को एक ही कक्षा में एक से अधिक स्तरों पर पढ़ाई करवाने का कोई अभ्यास है। कहने को उम्र के अनुसार भर्ती किए जाने वाले और पीछे चलने वाले बच्चों को विशेष प्रशिक्षण का हक होगा, पर यह ले देकर वही पुराना 'ब्रिज कोर्स सिस्टम' होने वाला है। अभी तक इस तरीके से कोई भी बच्चा अपने शैक्षणिक स्तर पर आने में सफल हुआ नहीं है। हालांकि ब्रिज कोर्स उद्योग पर फलने-फूलने वाले सरकारी उपक्रमों और गैर-सरकारी संस्थाओं के दावे जरूर हैं। पर यह शिक्षा की खानापूर्ति का तरीका भर रहे हैं। तो यह सब अब कागजों पर होने वाला है। कागजों पर ब्रिज कोर्सेज होंगे, कागजों पर बच्चे भर्ती होंगे, उनका समग्र और सतत मूल्यांकन होगा और उनकी शिक्षा पूरी हो जाएगी। आज भी ग्रामीण इलाकों में ऐसे बच्चों की बड़ी संख्या है जो शाला के रजिस्टर में पांचवीं पास हैं, पर स्वयं न कभी शाला गए, न उनको पढ़ना-लिखना आता है, इस तरह के प्रावधान से अब यह संख्या और बढ़ेगी। यह सोचने-समझने की कोशिश हुई ही नहीं है कि बच्चों के लिए जो प्रावधान किए जा रहे हैं, वे कक्षावार विभाजित शाला में सम्भव ही नहीं हैं। जब आप बच्चों को उनकी उम्र के अनुसार कक्षा में रख रहे हैं, परीक्षा ले नहीं सकते, पास-फेल करना है नहीं, तो कक्षा की परिभाषा क्या है ? कक्षा की धारणा में जरूरी है एक साल में निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करना, पूरा नहीं करने पर फिर एक साल में दोबारा करना अर्थात् फेल होकर पुनः उसी कक्षा में पढ़ना और कक्षा के सारे बच्चों को एक ही गति से पढ़ाना। इसके बिना कक्षा के मायने क्या हैं ? अधिनियम में तो प्रवेश के समय में ढील देकर एक साथ पढ़ाई और निश्चित अवधि में कोर्स पूरा करने से छूट दे दी है, फेल करने को गैर-कानूनी बना दिया है, अलग-अलग क्षमताओं से सीखने के स्तरों वाले बच्चों को साथ बैठा दिया है तो कक्षा को परिभाषित कैसे करेंगे ? यदि यह अधिनियम इन प्रावधानों को एक साथ बनाए रखना चाहता है तो यह कैसे मुमकिन होगा ?

यह अधिनियम जहां एक तरफ बच्चों के लिए समुचित शैक्षिक व्यवस्था करना चाहता है वहीं दूसरी तरफ उस व्यवस्था की आवश्यक मांगों को स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाता। इन अवधारणाओं के साथ आप विद्यालय तभी चला सकते हैं जब उसका गठन कक्षावार नहीं होकर अपनी गति से सीखने वाले समूह के रूप में हो, जहां परीक्षा की जरूरत ही न रहे, क्योंकि समूह व्यवस्था में हर एक वर्ष में दिए गए पाठ्यक्रम को समाप्त करने कि कोई बांदिश नहीं है और फेल करने की कोई धारणा ही नहीं है। कोई बच्चा उस पाठ्यक्रम को आधे साल में पूरा कर सकता है तो कोई दूसरा बच्चा उसी में डेढ़ साल भी लगा सकता है। बस जरूरी है उनका सतत आकलन और उस आकलन का समुचित दस्तावेजीकरण। साथ ही इस तरह का सतत आकलन केवल शिक्षक ही कर सकता है, कोई बाहरी व्यक्ति या अभिकरण ऐसा करने में कभी सफल नहीं हो सकता। यह विभाजित मानसिकता का परिणाम है। ऐसा लगता है कि एक तरफ दुनियाभर में चलने वाले शैक्षिक चिंतन के दबाव में हमने समझ कर और अपनी गति से सीखने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। उसे पास-फेल

न करने अर्थात् सीखने को वार्षिक टुकड़ों में बांटने के बजाय उसे एक सातत्य के रूप में स्वीकार कर लिया है और दूसरी तरफ हम कक्षा की धारणा को छोड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे हैं। क्योंकि कक्षा की धारणा को छोड़ने के लिए बच्चे की क्षमताओं में और शिक्षक की प्रबुद्धता और ईमानदारी में भरोसा चाहिए। यह भरोसा हमारे मन में है नहीं। फिर भी प्रगतिशील शिक्षाविद् और नीति-निर्माता होने का लालच मन में है। इसलिए इन आपस में दो विरोधी बातों को एक साथ स्वीकार करते हैं।

अभी यदि हम दूर-दराज के इलाकों में इस अधिनियम का कारगर पालन चाहते हैं तो हमें विद्यालय कि संकल्पना पर फिर से विचार करना होगा कि विद्यालय को अपने काम- यानी गांव के हर बच्चे का शाला में प्रवेश, उसकी लगातार उपस्थिति, उसके सीखने की समुचित व्यवस्था और उसकी पढ़ाई पूरी करने की जिम्मेदारी- को ठीक करने के लिए केवल सरकार के नाकारा और बेईमान तंत्र के आदेश काफी हैं या फिर उसे एक जिम्मेदार, स्वायत्त और समर्थ संस्थान होने की जरूरत है ? पिछले लगभग 40 वर्षों में हमने जिस तरह की योजनाएं चलाई हैं उनका एक परिणाम शाला का बहुत कमजोर रूप में स्थापित होना है। आज जैसी-तैसी जगह को स्कूल कहा जा सकता है, भवन हो या न हो, शिक्षक आए या न आए पर स्कूल अपनी जगह बना रहता है और कोई छुटभैया राजनेता चाहे तो बिना भवन और शिक्षकों की समुचित व्यवस्था के; बस कागजों में एकल शिक्षक वाली 13 बच्चों की शाला को प्राथमिक से उच्च प्राथमिक में क्रमोन्नत कर सकता है। अब इस अधिनियम ने शाला के लिए मानदंड तो बनाए हैं, पर उसकी स्वायत्तता और जिम्मेदारी बहुत साफ नहीं है। हमें एक ऐसी शाला की कल्पना करनी होगी जहां भवन, मानवीय और शिक्षण संबंधी सारे संसाधन हों। जहां कोई जिम्मेदार प्रधानाध्यापक हो। जो शाला एवं अपनी योजना स्वयं बना सके, जिसको अपनी संरचना स्वयं तय करने का अधिकार हो। ऐसे विद्यालय को शिक्षाक्रम के माध्यम से और संचालन के सामान्य मानदंडों के अनुसार तो चलना होगा; अर्थात् प्राथमिक और उच्च प्राथमिक शिक्षा के लिए कितना और क्या पढ़ाना जरूरी है तथा प्रत्येक बच्चे को वर्ष में कम से कम कितने घंटे पढ़ाई का अवसर मिलना चाहिए, यह तय करना होगा। उपलब्धि के मानदंड भी तय करने होंगे, पर इसके बाद पूरी आजादी देनी होगी कि वे सीखने का मूल्यांकन कैसे करें, कक्षाएं लगाएं, सीखने की गति की आजादी देने वाले समूह बनाएं, सिखाने की कैसी विधियां और सामग्री काम में लें। जब तक शाला को इन सब संसाधनों और स्वायत्तता से समर्थ नहीं किया जाएगा इस अधिनियम के अनुसार सारे बच्चों को शिक्षित करने में वह शाला असफल रहेगी।

समझने की जरूरत है कि यह असफलता हमारी परस्पर विरोधी मान्यताओं के कारण अवधारणा में ही निहित है। क्रियान्वयन की असफलता नहीं, चिंतन की असमर्थता की असफलता है। यह भी देखना होगा कि आदेश निकाल देने से सब जगह ऐसे विद्यालय अपने आप नहीं बन जाएंगे। हमारे शैक्षिक चिंतकों और नीति-निर्माताओं को तंत्र और आदेश पर बहुत भरोसा हो चला है। उस तंत्र में काम करने वाले लोगों की सामर्थ्य और नियत के बारे में हमारे पास कहने को कुछ खास नहीं होता, बस नियम बनाने और आदेश निकालने से सारे काम हो जाएंगे, ऐसा भान होने लगा है। जबकि ऊपर से नीचे तक हमारे शिक्षा तंत्र के पास न विचार है, न शिक्षा की कल्पना है और न ही काम करने की साफ नियत है। आपको दृढ़ने से भी सारे देश में एक भी राज्यस्तरीय शिक्षा संस्थान नहीं मिलेगा जो करीने का शिक्षाक्रम या पाठ्यपुस्तक बना सके। जिले के स्तर की तो बात ही क्या है ! हमारे यहां शैक्षिक चिंतन का अकाल भयावह है। ऐसी स्थिति में जिम्मेवार स्वायत्त शालाओं का बनना तभी संभव होगा जब समर्थ शिक्षक तैयार किए जा सकेंगे। अतः इस अधिनियम को ठीक से लागू करना है तो हमें शिक्षकों की तैयारी पर बहुत जोर देना होगा। जो चिंतन इस वक्त देश के नीति-निर्माताओं में और उनके शैक्षिक सलाहकारों में चल रहा है वह शिक्षक प्रशिक्षण के प्रमाणपत्र से आगे नहीं जा पा रहा है। यह समझने की जरूरत है कि औपचारिक प्रमाण पत्रों से सामर्थ्य नहीं विकसित होती और अब तो उन औपचारिकताओं को भी येन-केन प्रकारेण पूरा करने की बातें हो रही हैं। जैसे अप्रशिक्षित शिक्षकों को प्रवृत्त से वीएड करवा देना, जिनमें उनको प्रमाण-पत्र तो मिलेंगे, पर सीखने को कुछ नहीं मिलने वाला। यहां कहने की कोशिश यह है कि हमें शाला और शिक्षक की संकल्पना पर गंभीरता से विचार करना होगा और कुछ काम-चालू कर देने की मानसिकता से छुटकारा पाना होगा।

सरकारी तंत्र का नियंत्रण

शिक्षा के अधिकार अधिनियम का एक नतीजा सभी सरकारी और गैर-सरकारी विद्यालयों पर तंत्र के नियंत्रण का बढ़ना भी होने वाला है। ऐसी स्थिति में इस तंत्र के चरित्र को समझने की जरूरत है। पहली बात तो यह कि जिसे हम सामुदायिक शाला-व्यवस्था (Public School System) कहते हैं उसमें कुछ भी सामुदायिक नहीं है। ये भ्रष्ट, गैर जिम्मेदार और नाकारा सरकारी अधिकारियों और शिक्षा मंत्रियों के गिरोह की निजी जागीर है। इसमें वे जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं। तबादले का उद्योग चला सकते हैं, पद खाली रख सकते हैं और कागजों में सारे काम सम्पन्न कर सकते हैं। मुनाफाखोर दुकान को शाला के रूप में मान्यता दे सकते हैं और अच्छी शिक्षा के जीवंत उदाहरण स्वरूप चलने वाले विद्यालय को नकार सकते हैं।

हाल ही में मेरी बात एक ऐसे व्यक्ति से हुई जिसे निजी विद्यालय चलाने का 25 वर्ष का अनुभव है। अपने साझेदार से झगड़े में उसका निजी विद्यालय छिन गया। अब वह दूसरा विद्यालय उसी गांव में अपने पुराने साझेदार की प्रतिस्पर्धा में खड़ा करना चाहता है। उसने समिति का पंजीकरण करवा लिया है, भवन बना लिया है और अप्रैल से अपना विद्यालय आरंभ करने वाला है। मैंने उससे कहा कि अब शिक्षा का अधिनियम आ गया है आप अधिनियम के मानदण्डों को पूरा करते हुए लाभ कमाने वाला विद्यालय नहीं चला सकेंगे। उसने स्वभाविक रूप से जानना चाहा कि इसमें ऐसा क्या है ? मेरे यह बताने पर कि प्रशिक्षित शिक्षक चाहिए, एक अध्यापक के पास अधिकतम 40 बच्चे हो सकते हैं, 25 प्रतिशत बच्चे सरकारी फीस पर लेने होंगे, भवन आदि के मानदण्ड पूरे करने होंगे। उसका जवाब था, यह सब तो हम पहले भी करते थे और उसके विद्यालय का सालाना शुल्क है लगभग 4,000 रुपए। मैंने कहा कि आप यह सब कैसे करते थे ? बचत कहां से होती थी ? उसका सीधा उत्तर था कि विद्यालय तो जैसा चाहते थे वैसा ही चलाते थे और चलाएंगे; यह सब तो कागजों में करना होता है, वह हम अभी भी कर लेंगे। बल्कि वह जितना शुल्क गांव में लेते हैं सरकार हर बच्चे के लिए उससे कुछ ज्यादा ही देगी। ऐसे तंत्र में सरकारी अधिकारियों की घूसखोरी के बढ़ने के अलावा इन मानदण्डों से क्या हो सकता है ? हां, यह जरूर होगा कि जो बिना मुनाफे के ईमानदारी से सामाजिक सरोकारों के साथ शिक्षा की व्यवस्था के लिए प्रयत्न कर रहे हैं वे सब विद्यालय बंद हो जाएंगे।

समुचित जनभागीदारी से उम्मीद

इस अधिनियम को लागू करना एक गंभीर मसला है। अभी के हालात में इसका केवल एक ही तोड़ नजर आता है कि लोगों को सूचना के अधिकार का उपयोग करते हुए सरकारी तंत्र पर दबाव बनाने के लिए तैयार किया जाए। शाला प्रबंधन समिति- जिसमें 75 प्रतिशत अभिभावक होंगे- की सामर्थ्य पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। गांव के सामाजिक और राजनैतिक ढांचे में यह समिति कितनी समर्थ हो सकेगी इस पर बहुत सवाल हो सकते हैं। क्योंकि वहां की जाति के आधार पर बनती राजनीति में कमजोर तबके के अभिभावक हमेशा न तो अपने बच्चों के दीर्घकालीन हित को समझते हैं और समझने पर भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते हैं। आपसी प्रतिस्पर्धा, आर्थिक निर्भरता और सुरक्षा के सवाल उनको अपने ही विरुद्ध लिए जाने वाले निर्णयों के समर्थन के लिए बाध्य कर देते हैं। पर फिलहाल इस अधिनियम की रक्षा करने वाली कोई और सत्ता नजर नहीं आती, कम से कम ग्रामीण इलाकों में। तो ले देकर इस अधिनियम के जो फायदे हो सकते हैं वह जनभागीदारी और जनचेतना पर निर्भर करते हैं।

अतः जो लोग इससे उम्मीद लगाए बैठे हैं और इसकी सफलता चाहते हैं उनको नई समर्थ शाला की संकल्पना पर काम करना चाहिए; नए जिम्मेदार और समर्थ शिक्षक की तैयारी पर काम करना चाहिए और मजबूत जनभागीदारी पर काम करना चाहिए। समर्थ जनभागीदारी इस अधिनियम की मदद से सरकारी तंत्र को ईमानदारी से काम करने के लिए बाध्य करने की कोशिश कर सकती है और निजी शालाओं की बाढ़ को रोकने की कोशिश कर सकती है। यह सब भविष्य के गर्भ में है और शिक्षा के सरोकार रखने वालों को अभी आशंका और उम्मीद के बीच अपना रास्ता बनाना है। ◆

रोहित धनकर